

# भारतीय राजनीति में राज्यपाल की भूमिका : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन



डॉ. मंजु शर्मा

सह आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग  
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

## शोध सारांश

राज्यपाल का पद राज्य के संवैधानिक प्रमुख का गरिमापूर्ण पद है। इसकी आवश्यकता, नियुक्ति व शक्तियों के सम्बन्ध में संविधान सभा की प्रारूप समिति में विस्तार से चर्चा की गई और संविधान विशेषज्ञों द्वारा अनेक सुझाव भी प्रस्तुत किये गये थे। शनैः शनैः यह पद राज्य में केन्द्र के एजेण्ट के रूप में देखा जाने लगा। राज्यपाल जैसी संस्था का राजनीतिकरण प्रारम्भ किया गया। प्रदेशों के पूर्व मुख्य मंत्री एवं केन्द्रीय मंत्री राज्यपाल बनने लगे। राज्यपाल भी अपने-अपने प्रदेशों में उस दल का हित चिन्तन करने लगे जिस मूल दल से आये थे। बढ़ती राजनीतिक महत्वाकांक्षा ने राज्यपाल जैसी संस्था का बहुत तेजी से हास किया। राज्य राजनीति में राज्यपाल की भूमिका में 1989 के पश्चात तेजी से परिवर्तन आया है। जब से गठबन्धन सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ है तब से अनुच्छेद 356 का प्रयोग अधिक हुआ है। आज खण्डित जनादेश की राजनीति ने अनेक संवैधानिक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, जिससे राज्यपाल की भूमिका को विवाद का विषय बना दिया है। चिन्ता का विषय यह है कि जिन संस्थाओं या व्यक्तियों पर संविधान की रक्षा की ज्यादा जिम्मेदारी है वे ही शक व सन्देह के दायरे में हैं। इसलिये आवश्यकता है कि राज्यपाल पद पर आसीन व्यक्ति अपनी संवैधानिक जिम्मेदारी का निष्पक्षता से निर्वहन करे, दलीय राजनीति से उपर उठकर अवसर आने पर स्वविवेक द्वारा उचित निर्णय ले।

राज्यपाल पद पर संविधान सभा में गम्भीरता से विचार हुआ था। इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रारूप कमेटी में विस्तार से चर्चा हुई, जिसके सदस्यों में अम्बेडकर, अल्लादी कृष्णस्वामी, अय्यर, टी.टी. कृष्णामाचारी, कन्हैया लाल मुंशी जैसे विशेषज्ञ थे। नेहरू, सरदार पटेल जैसे राजनेताओं ने भी अपने विचार व्यक्त किए। राज्यपालों की नियुक्ति व शक्तियों पर अनेक विचार व सुझाव आए थे। अमरीका के गवर्नरों की तरह राज्यपालों को सीधे जनता द्वारा चुना जाना और उन्हें विस्तृत अधिकार देने की बात भी कही गई थी। उनके अप्रत्यक्ष चुने जाने का भी सुझाव था। पर आम सहमति इसी पर थी कि ये राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाएँ और जैसा संसदीय प्रणाली में होता है, वे संवैधानिक प्रमुख के तौर पर काम करें। राज्यपालों की नियुक्ति में राज्य सरकारों की राय ली जाए, सम्बन्धी आम राय बनी। नेहरू ने साफ कहा था कि बहुत अच्छा होगा कि राज्यपाल प्रदेश की स्थानीय राजनीति से ज्यादा सम्बन्धित नहीं हो, और भी अच्छा होगा कि ऐसे असम्बन्धित व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जाए जो राज्य की भी स्वीकार हो।<sup>1</sup> इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने 1979 में

राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल रघुकुल तिलक के मामले में राज्यपालों के लिए कहा था कि वे केन्द्र सरकार के कर्मचारी के साथ एक संवैधानिक मुखिया भी हैं। उनके लिए आवश्यक नहीं कि वे हर मामले में केन्द्र के निर्देशों का पालन करें।<sup>2</sup>

राज्यपाल का पद राज्य के संवैधानिक प्रमुख का गरिमापूर्ण पद है। शनैः शनैः यह पद राज्य में केन्द्र के एजेण्ट के रूप में देखा जाने लगा। देश के प्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस ने राज्यपाल जैसी संस्था का राजनीतिकरण प्रारम्भ किया। कालान्तर में यह पद राजनीतिक वनवास एवं पुनर्वास का स्थल बन गया। प्रदेशों के पूर्व मुख्यमंत्री एवं केन्द्रीय मंत्री राज्यपाल बनने लगे तथा पूर्व महामहिम विभिन्न प्रदेशों में मुख्यमंत्री तथा केन्द्र में मंत्री पद को सुशोभित करने लगे। राज्यपाल अपने-अपने प्रदेशों में उस दल का हित चिन्तन करने लगे, जिस मूल दल से वे आए थे। बढ़ती राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं ने राज्यपाल जैसी संस्था का जबर्दस्त हास किया। एम. चेन्ना रेड्डी, अर्जुन सिंह, सुरजीत सिंह बरनाला, सूरजभान, मोतीलाल वीरा तथा जगमोहन आदि मुख्यमंत्री कभी केन्द्र में मंत्री तथा कभी राज्यपाल बनते दिखे। एक तरफ यह

संस्था क्षतिग्रस्त हो रही थी तो दूसरी तरफ प्रमुख राजनीतिक दल अपने-अपने स्वार्थ साधनों में जुटे थे। मुख्यमंत्री के विरोध पर राज्यपाल का स्थानान्तरण उप कुलपतियों की मनमानी नियुक्ति तथा शिक्षण संस्थाओं में अपना कोटा बढ़वाने आदि को लेकर मुख्यमंत्रियों से राज्यपालों का विवाद भी चर्चा का विषय रहा। ऐसा नहीं है कि केवल राज्यपाल ही अपने पद का दुरुपयोग कर रहे हैं, अपितु मुख्यमंत्री भी अपने प्रदेश को इच्छानुसार चलाने के लिये अपनी मर्जी का राज्यपाल चाहते हैं। वे अपनी मर्जी का राज्यपाल राजनीतिक मूल्यों की स्थापना के लिये नहीं बरन प्रदेश में एकछत्र राज्य स्थापित करने के लिये चाहते हैं।<sup>3</sup>

संविधान निर्माताओं का मानना था कि यह पद राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के संदर्भ में संघ व राज्यों में संयोजक की भूमिका का निर्वाह करेगा। इसलिये राज्यपालों को मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति, बर्खास्तगी, राज्य-विधानसभाओं के विघटन व निलम्बन की स्वविवेकी शक्तियाँ सौंपी गई। अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत जब राज्यपाल प्रशासक की भूमिका निभाते हैं तो ऐसे अवसर पर केन्द्र सरकार उनसे निष्पक्ष वास्तविक शासक की उम्मीद करती है। लेकिन मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति, बर्खास्तगी व राज्यों में राष्ट्रपति शासन के सम्बन्ध में तथा विधानसभाओं के निलम्बन व विघटन में सर्वमान्य प्रथा का अभाव रहा है। राज्यपालों द्वारा आचरण में असंगतता रही है। राज्यपालों द्वारा केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी को सर्वोपरि मानते हुए आचरण किया गया। राज्यपालों का जितना राजनीतिक इस्तेमाल हुआ है वैसा शायद ही किसी और संवैधानिक पदाधिकारी का हुआ हो। जब कांग्रेस का सत्ता पर एकाधिपत्य था तब भी होता था और अन्य दलों के उभरने के पश्चात् भी होता आ रहा है। अक्सर राज्यपाल को केन्द्र की आँख और कान कहा जाता है। राज्यपाल की जिम्मेदारियाँ संविधान में परिभाषित हैं। मुख्यमंत्री की नियुक्ति व हटाने में अहम् भूमिका होती है। विधानसभा में जब किसी पार्टी का स्पष्ट बहुमत नहीं हो तब नियुक्ति का दायित्व अधिक हो जाता है। 1967 के पश्चात् राज्यपालों द्वारा मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति व हटाने के सम्बन्ध में निर्णय राजनीति से प्रभावित लगते हैं जबकि उन्हें निष्पक्ष होना चाहिए। नियुक्ति के लिये सरकारिया कमीशन ने पिछले अनुभवों पर आधारित कुछ सिफारिशों की थी, उन पर कितना अमल हुआ यह विवादास्पद है। 1967 से पहले केन्द्र व राज्यों में रजनी कोठारी का 'एक पार्टी एकाधिकार' का सिद्धान्त कार्यरत था। केन्द्र व राज्यों में विरोध नहीं था। 1967 के पश्चात् भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। 'एक पार्टी' सिद्धान्त कमजोर पड़ गया। क्षेत्रवाद सम्प्रदायवाद, राजनीतिकरण के कारण राज्यों की

राजनीति में परिवर्तन आया और राज्यपाल का पद महत्वपूर्ण हो गया। मिली-जुली राजनीति के कारण राज्यों में केन्द्र विरोधी सरकार बनी। राज्यपाल जो अब तक नाममात्र के मुखिया के रूप में काम करता था, अब प्रशासन में उसकी भूमिका औपचारिक के बजाय सक्रिय हो गई।<sup>4</sup>

संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत संवैधानिक मशीनरी के असफल होने के संदर्भ में जो शक्तियाँ दी गई, राज्यपालों द्वारा उन शक्तियों का प्रयोग अत्यधिक किया जाने लगा। खण्डित जनादेश के कारण राज्यपाल राज्यों की राजनीति में रुचि रखने लगे हैं। जब कोई गठबन्धन बहुमत सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाता तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल को ही यह निर्णय करना होता है कि वह क्या कार्यवाही करे।

वर्तमान में राज्यों की दलीय राजनीति में भी राज्यपाल का हस्तक्षेप बढ़ गया है। जब भी कोई दल बहुमत सिद्ध करने में असफल हो जाता है तो वह राज्यपाल पर निर्भर करता है कि वह दल-बदल व गठजोड़ को कहाँ तक सहमत प्रदान करता है। आज खण्डित जनादेश की राजनीति ने अनेक संवैधानिक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, जिससे राज्यपाल की भूमिका को विवाद का विषय बना दिया। राज्यपाल का पद केन्द्र सरकार द्वारा जिस व्यक्ति को भी दिया जाता है उनका राजनीतिक स्वार्थ होता है। केन्द्र सरकार इस पद की आड़ में अपने राजनीतिक उद्देश्यों को पूरा करती है। पिछले दशकों से राज्यों की राजनीति में राज्यपाल की जो भूमिका रही है उसके कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में व्यापक तनाव, संघीय व्यवस्था के सिद्धान्त पर व्यापक चोट और लोकतन्त्र के समझ चुनौती पैदा की है। वर्तमान में खण्डित जनादेश के कारण मुख्यमंत्रियों की स्थिति काफी कमजोर हुई है। राज्य-शक्तियों का झुकाव राज्यपाल के पक्ष में हो गया है। आज लोकतांत्रिक व्यवस्था व संवैधानिक मूल्यों को अनदेखा करते हुए राज्यपाल स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग खुलकर कर रहे हैं, जो लोकतन्त्र पर गहरी चोट है। राजनीतिक अस्थिरता, दल-बदल, गठजोड़ की राजनीति के कारण राजनीतिक संकट बढ़ता ही जा रहा है। कई बार राज्यपाल के समक्ष ऐसी विषम परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं कि जिनका सामना करने में वह अपने आपको असहाय सा महसूस करता है। उसकी ऐसी स्थिति की कल्पना संविधान निर्माताओं ने कभी भी नहीं की थी।<sup>5</sup>

केन्द्र सरकार ने चाहे वह किसी भी दल की क्यों न रही हो, अपनी आवश्यकता के अनुसार राज्यपाल के पद का दुरुपयोग किया है। केन्द्र सरकार ने जब-जब उचित समझा राज्य की कानून

की स्थिति के बारे में रिपोर्ट मँगवा ली। ताकि राज्य की सरकार को अपदस्थ कर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सके। केन्द्र सरकार ने राज्यपाल को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किया है। राज्यपालों की नियुक्ति में संविधान की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा का भाव उतना प्रबल नहीं रह गया, जितना राजनीतिक दाँव-पेच का। राज्यपाल भी ये भूल जाते हैं कि उनके पद की मर्यादा व गरिमा क्या है? 1967 में प्रथम बार आठ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन होने पर केन्द्र में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस व राज्य सरकार में द्वन्द्व उत्पन्न हो गया और श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने गैर-कांग्रेसी सरकारों को राज्यपाल की मदद से भंग करवाया। जिससे राज्यपाल का पद एक तरफ तो महत्वपूर्ण हो गया तथा दूसरी तरफ अत्यन्त विवादपूर्ण हो गया। पुनः 1977 में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया जब केन्द्र में पहली बार गैर-कांग्रेस सरकार का गठन हुआ।

विधानसभाओं के विघटन व निलम्बन में राज्यपालों ने जिस प्रकार अपनी शक्तियों का प्रयोग किया है, उससे राज्यपाल का पद विवादों व सन्देह के घेरे में झूलता नजर आ रहा है। जब राज्यों व केन्द्र में एक दलीय प्रभुत्व वाली सरकारें रहीं तब राज्यपालों की क्षमताओं व सीमाओं पर किसी प्रकार के प्रश्न नहीं उठाए गए, लेकिन गठबन्धन सरकारों के आने से उनकी भूमिका निर्धारण पर प्रश्न चिन्ह लग गए। स्वतंत्रता के पश्चात् (विशेष रूप से 1967 के पश्चात्) राज्यपालों ने अपनी शक्तियों का जिस तरह से प्रयोग किया है उससे अनेक संवैधानिक प्रश्नों (अनुच्छेद 356 के आधार पर राष्ट्रपति शासन की अनुशंसा सम्बन्धी, केन्द्र सरकार को विधानसभाओं की कार्यवाही सम्बन्धी प्रतिवेदन भेजने से सम्बन्धी, स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग सम्बन्धी, अनुच्छेद 356 में प्रयुक्त 'अन्यथा' शब्द से सम्बन्धित प्रश्न) का जन्म हुआ। अधिकांशतः राज्यपाल द्वारा संघीय सरकार के पक्ष में शक्ति का दुरुपयोग किया गया है। स्वतंत्रता के पश्चात् आरम्भिक समय में जब वैकल्पिक सरकार बनाने की विपक्ष की मांग को ठुकरा दिया और बहुमत परीक्षण भी नहीं करवाया गया उदाहरण के तौर पर त्रावणकोर कोचीन में 1954 में, पांडिचेरी में 1961 में, प.बंगाल में 1968 में, मणिपुर में 1969 में, बिहार में 1971 में, उड़ीसा में 1973 में, केरल में 1974 में, आंध्रप्रदेश में 1984 में, यदि कांग्रेस जोड़-तोड़ करके बहुमत जुटाने की इच्छुक होती तो अवसर प्रदान कर दिया जाता है। उदाहरण के तौर पर हरियाणा में राव वीरिन्द्र (1967), उत्तर प्रदेश में चरण सिंह (1968), गुजरात में हितेन्द्र देसाई (1971), मध्यप्रदेश में राजा नरेश चन्द्र सिंह (1967), बिहार में कपूरी ठाकुर (1971), जम्मू कश्मीर में फारूख अब्दुल्ला (1984) द्वारा सिफारिशों को ठुकरा दिया गया।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में यदि सुविधा की स्थिति में राज्यपाल सदन की बैठक बुलाकर स्थिति का स्पष्टीकरण कर सकता है लेकिन राज्यपालों द्वारा विरोधाभासी सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया। त्रावणकोर कोचीन में 1952 में उड़ीसा 1957 में, राजस्थान में 1967 में, पांडिचेरी में 1974 में, केरल व हरियाणा में 1982 में, कश्मीर में 1983 व 2002 में, नागालैण्ड में 1988 व 1992 में, उत्तरप्रदेश में 1995 में, मणिपुर में 2001 में, झारखण्ड में 2005 में, राज्यपाल द्वारा जनादेश की अवहेलना की गई। राज्यपाल की भूमिका पर ये भी आक्षेप लगाए गए कि राज्यपाल निष्पक्षता व दूरदर्शिता के गुणों को प्रदर्शित नहीं कर पाए। राज्यपाल ने निष्पक्षता व विवेक का प्रयोग करके संघ व राज्यों में अपनी अच्छी भूमिका का निर्वाह नहीं किया। कुछ राज्यों में मन्त्रिमण्डल व विधानमण्डल की बर्खास्तगी, राष्ट्रपति के लिए आरक्षित बिलों तथा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश को लेकर अनेक बार द्वेष उत्पन्न हुआ है।

भारत के स्वतंत्र होने से लेकर अब तक राज्यपालों द्वारा संकीर्ण राजनीति से प्रेरित होकर संविधान की आत्मा पर प्रहार किया गया है। अनेक मामलों में संवैधानिक परम्पराओं तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का राज्यपालों द्वारा सीधा उल्लंघन किया गया है। मुख्यमंत्री के पास बहुमत है या नहीं इसका निर्णय सदन में होना चाहिए, परन्तु कई बार राजनैतिक दबावों के कारण राज्यपाल को ऐसे निर्णय लेने पड़े। राज्यपाल का प्रयोग राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों को गिराने के लिए किया गया, जो कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। अनेक उदाहरण हैं जब राज्यपालों द्वारा विपक्ष को सरकार निर्माण का मौका दिए बिना विधानसभाओं को भंग कर केन्द्र सरकार की मनपसन्द पार्टी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। जब राज्यपालों द्वारा केन्द्र सरकार के स्वार्थों की पूर्ति के लिए उनके आदेश की अनदेखी की गई तो ऐसे राज्यपालों का स्थानान्तरण कर दूसरा राज्यपाल नियुक्त किया गया।

स्वतंत्रता के पश्चात् आरम्भिक वर्षों में तो राज्यपाल बुद्धिजीवी व प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था और वे पाँच वर्ष तक अपने पद पर कार्य करते थे। परन्तु वर्तमान में इस पद पर गैर राजनीतिक व्यक्तियों की नियुक्ति की आशा करना गलत है। आजकल सक्रिय राजनेताओं को राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जाता है जो कि संविधान व स्वस्थ संसदात्मक व्यवस्था के अनुरूप नहीं है क्योंकि राज्यपाल का कार्य किसी दल विशेष के राजनैतिक उद्देश्यों को पूरा करना नहीं है। उच्चतम न्यायालय द्वारा भी सरकारिया आयोग की सिफारिशों के मुताबिक

राज्यपालों की नियुक्ति और राजनीतिक पार्टियों में आम सहमति बनाने की बात कही है। न्यायालय द्वारा बिहार के राज्यपाल बूटासिंह के मामले में राजनेताओं को राज्यपाल बनाने पर भी टिप्पणी की है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि राज्यपाल की भूमिका में 1989 के बाद तेजी से परिवर्तन आया है। जब से गठबन्धन सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ है तब से अनुच्छेद 356 का प्रयोग अधिक हुआ है। राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए राज्यपालों को भी केन्द्र सरकार द्वारा बर्खास्त किया गया है। संविधान निर्माताओं द्वारा राज्यपालों को कुछ विशेष परिस्थितियों में निश्चित महत्वपूर्ण स्वविवेकीय शक्तियाँ इसलिये प्रदान की गई थी जिससे वे राजनीतिक संकट का सामना कर सकें। परन्तु विधानसभाओं के विघटन के अनेक प्रकरणों ने, राज्यपालों द्वारा संविधान निर्माताओं की भावनाओं को ठेस पहुँचायी है। विधानसभाओं के विघटन में उनकी भूमिका राजनीति से प्रेरित भिन्न-भिन्न रही है।

1967 के पश्चात् बदलते राजनीतिक परिदृश्य में राज्यपालों की भूमिका का आकलन किया जाए तो कहना पड़ेगा कि धीरे-धीरे राज्यपाल केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के कार्यकर्ता बन गए हैं। सभी प्रमुख दलों, केन्द्र में सत्तारूढ़ हो चुके दलों या गठबन्धनों ने अधिकतर उन्हीं व्यक्तियों को राज्यपाल बनाया है जो किसी न किसी तरह उनसे जुड़े थे। के.वी. राव के अनुसार “आज उसे केन्द्र द्वारा नियुक्त किया व हटाया जाता है। राज्यपाल वही है जो केन्द्र उसे बनाना चाहता है, ऐसा कुछ कार्य नहीं है जो राज्यपाल स्वविवेक से कर सके, उसकी भूमिका उस पर निर्भर है जो पीछे बैठा व्यक्ति डोरियों से करा रहा है।”<sup>6</sup> क्या इन राज्यपालों ने उन मानदण्डों के अनुसार काम किया जिनकी उम्मीद संविधान में निहित है या संविधान बनाने वालों ने की थी? जबाब ‘नहीं’ में होगा। इसका कारण है कि वे नियुक्ति को राष्ट्रपति का प्रसाद (प्लेजर ऑफ द प्रेसीडेन्ट) मानते हैं, जबकि वास्तव में इस पद पर उनका बने रहना केन्द्र सरकार पर निर्भर है। इस भावना या विश्वास को वे बनाए रखना चाहते हैं। एक व्यक्ति जो केन्द्र या राज्य में मंत्री या मुख्यमंत्री है, चुनाव हारने पर या किसी वजह से हटाया जाता है तो तुरन्त राज्यपाल नियुक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में उससे निष्पक्षता की उम्मीद करना अपने को भुलावे में डालना है। नौकरशाही का भी राजनीतिकरण हो चुका है और नौकरशाहों पर भी यह बात लागू है। राज्यपालों की नियुक्ति के लिए मापदण्ड

तैयार करना एक पार्टी की जिम्मेदारी नहीं। आम राय बनाने के लिए सभी पार्टियों को राजनीति से ऊपर उठना होगा।

राज्यपाल की भूमिका के संदर्भ में एक अहम सवाल है जिसका सम्बन्ध न्यायालय के फैसले से है - क्या बहुमत बनाने के लिए डराना-धमकाना, तरह-तरह के प्रलोभन देना, भेड़-बकरी की तरह एक जगह से दूसरी जगह हाँकना ताकि उन तक पहुँचना मुश्किल हो, जैसा कर्नाटक में हुआ है और कुछ अन्य राज्यों में हो चुका राजस्थान में भी दलों को अपने ही विधायकों की वफादारी पर विश्वास नहीं। उन्हें डर है कि मौका पाते ही वे बिकने को तैयार रहते हैं। संसदीय प्रणाली और जनतन्त्र के भविष्य पर ये सवालिया निशान है। अगर बिहार, उत्तर प्रदेश या कर्नाटक जैसी स्थिति कहीं पैदा होती है तो उसे कैसे हल किया जाए जिससे न्यायालय की ऐसी टिप्पणियों से बचा जा सके जैसी उसने बिहार विधानसभा को भंग करने के मामले में की थी। देश के सभी राजनीतिक दल यह भी तय करें कि अवसर आने पर उच्च पदों पर बैठे व्यक्ति किस गरिमापूर्ण तरीके से अलग किए जा सकते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि राज्यपालों ने संविधान की भावना और आत्मा के अनुरूप आचरण प्रस्तुत नहीं किया। वे अपने मूल राजनीतिक दलों के हाथों की कठपुतली बने रहे और संस्था का ह्रास करते रहे। मात्र राज्यपालों को ही नहीं वरन् उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश सेना के सर्वोच्च कमाण्डरों, सी.ए.जी. जैसे सर्वोच्च पदों पर आसीन लोगों पर भी सेवानिवृत्ति के बाद राजनीति में प्रवेश पर रोक होनी चाहिए। चिन्ता का विषय यह है कि जिन संस्थाओं या व्यक्तियों पर संविधान की रक्षा की ज्यादा जिम्मेदारी है वे ही शक और सन्देह के दायरे में हैं।

#### संदर्भ सूची

1. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग-2, पृ. 595
2. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 156(1)
3. जैन, राजेश, भारत में राज्यपाल पद की गरिमा पर प्रश्न चिन्ह, भारती परिषद्, नई दिल्ली, 1998, पृ. 15
4. जॉन्स डब्ल्यू., एच. मोरिस, दा गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया, बी.आई. पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1976
5. चाको, वी.डी., कॉन्सटीट्यूशन असेम्बली डिबेट्स 1949 वॉल्यूम VIII न. 4 पृ. 749
6. जैन, सी.के., भारत का संविधान : सिद्धान्त एवं व्यवहार डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1992